वह अन्य सभी द्रव्यों के पर्याय परिवर्तन में निमित्त का कारण बनकर कार्य करता है। पुन: यदि काल द्रव्य में ध्रौव्यत्व का अभाव मानेंगे तो उसका द्रव्यत्व समाप्त हो जायेगा। अत: उसे स्वतन्त्र द्रव्य मानने पर उसमें उत्पाद-व्यय के साथ-साथ ध्रौव्यत्व भी मानना होगा।

कालचक्र

अर्धमागधी आगम साहित्य में काल की चर्चा उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल के रूप में भी उपलब्ध होती है। इनमें प्रत्येक के छह-छह विभाग किये जाते हैं, जिन्हें आरे कहा जाता है। ये छह आरे निम्न हैं-१. सुषमा-सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमा-दुषमा, ४. दुषमा-सुषमा, ५. दुषमा और ६. दुषमा-दुषमा। उत्सर्पिणी काल में इनका क्रम विपरीत होता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल मिलकर एक कालचक्र पूरा होता है। जैनों की कालचक्र की यह कल्पना बौद्ध और हिन्दू कालचक्र की कल्पना से भिन्न है। किन्तु इन सभी में इस बात को लेकर समानता है कि इन सभी में कालचक्र के विभाजन का आधार सुख-दु:ख एवं मनुष्य के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की क्षमता को बनाया है।

जैनों के अनुसार उत्सर्पिणी काल में क्रमश: विकास और अवसर्पिणी काल में क्रमश: पतन होता है। ज्ञातव्य है कि कालचक्र का प्रवर्त्तन जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र आदि कुछ विभागों में ही होता है।

इस प्रकार पाँच अस्तिकाय द्रव्यों एवं एक अनस्तिकाय द्रव्य का विवेचन करने के पश्चात् आत्मा एवं पुद्गल द्रव्य तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को समझना आवश्यक है।

सन्दर्भ-

1. See J.C. Sikdar, Concept of Matter in Jaina Philosophy,. P.V. Research Institute, Varanasi-5
2. उद्धृत Jain Conceptions of Space and Time by Nagin J. Shah, p. 374, Ref. No. 6, Studies in Jainism, Deptt. of Philosophy, University of Poona, 1994.
3. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-२, पृ० ८४,८७.
४. Studies in Jainism, Ed. M.P. Marathe, P. 69.

महावीरकालीन विभिन्न आत्मवाद एवं जैन आत्मवाद का वैशिष्ट्य

धर्म और नैतिकता आत्मा सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताओं पर अधिष्ठित रहते हैं। किसी भी धर्म एवं उसकी नैतिक विचारणा को उसके आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त के अभाव में समुचित रूप से नहीं समझा जा सकता। महावीर के धर्म एवं नैतिक सिद्धान्तों के औचित्य-स्थापन के पूर्व उनके आत्मवाद का औचित्य-स्थापन आवश्यक है। साथ ही महावीर के आत्मवाद को समझने के लिये उनके समकालीन विभिन्न आत्मवादों का समालोचनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है।

यद्यपि भारतीय आत्मवादों के सम्बन्ध में वर्तमान युग में श्री ए.सी. मुकर्जी ने अपनी पुस्तक "The Nature of Self" एवं श्री एस.के. सक्सेना ने अपनी पुस्तक "Nature of Consciousness in Hindu Philosophy" में विचार किया है लेकिन उन्होंने महावीर के समकालीन आत्मवादों पर समुचित रूप से कोई विचार नहीं किया है। श्री धर्मानन्द कौशाम्बीजी द्वारा अपनी पुस्तक "भगवान बुद्ध" में यद्यपि इस प्रकार का एक लघु प्रयास अवश्य है फिर भी इस सम्बन्ध में एक व्यवस्थित अध्ययन आवश्यक है।

पाश्चात्य एवं कुछ आधुनिक भारतीय विचारकों की यह मान्यता है कि महावीर एवं बुद्ध के समकालीन विचारकों में आत्मवाद-सम्बन्धी कोई निश्चित दर्शन नहीं था। तत्कालीन सभी ब्राह्मण और श्रमण मतवाद केवल नैतिक-विचारणाओं एवं कर्मकाण्डीय-व्यवस्थाओं को प्रस्तुत करते थे। सम्भवत: इस धारणा का आधार तत्कालीन औपनिषदिक साहित्य है, जिसमें आत्मवाद सम्बन्धी विभिन्न परिकल्पनायें, किसी एक आत्मवादी सिद्धान्त के विकास के निमित्त संकलित की जा रही थीं। उपनिषदों का आत्मवाद विभिन्न श्रमण परम्पराओं के आत्मवादी सिद्धान्तों से स्पष्ट रूप से प्रभावित है। उपनिषदों में आत्मासम्बन्धी परस्पर विपरीत धारणायें जिस बीज रूप में विद्यमान हैं वे इस तथ्य की पुष्टि में सबल प्रमाण हैं। हाँ, इन विभिन्न आत्मवादों को ब्रह्म की धारणा में संयोजित करने का प्रयास उनका अपना मौलिक है।

लेकिन यह मान लेना कि महावीर अथवा बुद्ध के समकालीन विचारकों में आत्मासम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त थे ही नहीं, यह एक भ्रान्त धारणा है।

मेरी यह स्पष्ट धारणा है कि महावीर के समकालीन विभिन्न विचारकों की आत्मवाद सम्बन्धी विभिन्न धारणायें विद्यमान थीं। कोई उसे सूक्ष्म कहता था, तो कोई उसे विभु। किसी के अनुसार आत्मा नित्य थी, तो कोई उसे क्षणिक मानता था। कुछ विचारक उसे (आत्मा को) कर्ता मानते थे, तो कुछ उसे निष्क्रिय एवं कूटस्थ मानते थे। इन्हीं विभिन्न आत्मवादों की अपूर्णता एवं नैतिक व्यवस्था को प्रस्तुत करने की अक्षमताओं के कारण ही तीन नये विचार सामने आये— एक ओर था उपनिषदों का सर्व-आत्मवाद या ब्रह्मवाद, दूसरी ओर था बुद्ध का अनात्मवाद और तीसरी विचारणा थी जैन आत्मवाद की, जिसने इन विभिन्न आत्मवादों को एक जगह समन्वित करने का प्रयास किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन विभिन्न आत्मवादों की समालोचना के पूर्व इनके अस्तित्व-सम्बन्धी प्रमाण प्रस्तुत किये जाने आवश्यक हैं। बौद्ध-पालि-आगम-साहित्य, जैन-आगम एवं उपनिषदों के विभिन्न प्रसंग इस संदर्भ में कुछ तथ्य प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध-पालि-आगम के अन्तर्गत सुत्तपिटक में दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त एवं मज्झिमनिकाय के चूलसारोपमसुत्त में इन आत्मवादों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि उपर्युक्त सुत्तों में हमें जो जानकारी प्राप्त होती है, वह बाह्यत: नैतिक आचार-सम्बन्धी प्रतीत होती है, लेकिन यह जिस रूप में प्रस्तुत की गई है, उसे देखकर हमें गहन विवेचना में उतरना होता है, जो अन्ततोगत्वा हमें किसी आत्मवाद-सम्बन्धी दार्शनिक निर्णय पर पहुँचा देती है।

पालि-आगम में बुद्ध के समकालीन[१] इन आचार्यों को जहाँ एक ओर गणाधिपति, गण के आचार्य, प्रसिद्ध यशस्वी, तीर्थंकर तथा बहुजनों द्वारा सुसम्मत[२] कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उनके नैतिक सिद्धान्तों को इतने गर्हित एवं निन्द्य रूप में प्रस्तुत किया गया है[३] कि साधारण बुद्धि वाला मनुष्य भी इनकी ओर आकृष्ट नहीं हो सकता। अत: यह स्वाभाविक रूप से शंका उपस्थित होती है कि क्या ऐसी निन्द्य नैतिकता का उपदेश देने वाला व्यक्ति लोकसम्मानित धर्माचार्य हो सकता है, लोकपूजित हो सकता है?

यही नहीं कि ये आचार्यगण लोकपूजित ही थे वरन् वे आध्यात्मिक-विकास के निमित्त विभिन्न साधनायें भी करते थे, उनके शिष्य एवं उपासक भी थे। उपरोक्त तथ्य किसी निष्पक्ष गहन विचारणा की अपेक्षा करते हैं, जो इसके पीछे रहे हुए सत्य का उद्‌घाटन कर सकें।

मेरी विनम्र सम्मति में उपर्युक्त विचारकों की नैतिक विचारणा को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह उन विचारकों की नैतिक विचारणा नहीं है, वरन् उनके आत्मवाद या अन्य दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर निकाला हुआ नैतिक निष्कर्ष है, जो विरोधी पक्ष के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

जैनागमों जैसे सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र), उत्तराध्ययन आदि में भी कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनके आधार पर तत्कालीन आत्मवादों को प्रस्तुत किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में प्राचीनतम उपनिषद् छान्दोग्य और बृहदारण्यक[४] हैं, उनमें भी तत्कालीन आत्मवाद के सम्बन्ध में कुछ जानकारी उपलब्ध होती है। कठोपनिषद् एवं गीता में इन विभिन्न आत्मवादी धारणाओं का प्रभाव यत्र-तत्र यथेष्ट रूप से देखने को मिल सकता है।

लेख के विस्तारभय से यहाँ उक्त सभी ग्रन्थों के विभिन्न संकेतों के आधार पर उनसे प्रतिफलित होने वाले आत्मवादों की विचारणा सम्भव नहीं है, अत: हम यहाँ कुछ आत्मवादों का वर्गीकृत रूप में मात्र संक्षिप्त अध्ययन ही करेंगे। इनका विस्तृत और पूर्ण अध्ययन तो स्वतन्त्र गवेषणा का विषय है।

इस दृष्टि से हमारे अध्ययन में निम्न वर्गीकरण सहायक हो सकता है—

१. नित्य या शाश्वत आत्मवाद,
२. अनित्य आत्मवाद, उच्छेद आत्मवाद, देहात्मवाद,
३. कूटस्थ आत्मवाद, अक्रिय आत्मवाद, नियतिवाद,
४. परिणामी आत्मवाद, आत्म कर्तृत्ववाद, पुरुषार्थवाद,
५. सूक्ष्म आत्मवाद,
६. विभु आत्मवाद,
७. अनात्मवाद,
८. सर्व आत्मवाद या ब्रह्मवाद।

प्रस्तुत निबन्ध में उपर्युक्त सभी आत्मवादों का विवेचन सम्भव नहीं है, दूसरे अनात्मवाद और सर्व आत्मवाद के सिद्धान्त क्रमश: बौद्ध और वेदान्त परम्परा में विकसित हुए हैं, जो काफी विस्तृत हैं साथ ही लोक प्रसिद्ध हैं। अत: उनका विवेचन प्रस्तुत निबन्ध में नहीं किया गया है। परिणामी आत्मवाद का सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप से किसका था, यह ज्ञात नहीं हो सका। अत: उसका भी विवेचन इस निबन्ध में नहीं किया गया है। प्रस्तुत प्रयास में इन विभिन्न आत्मवादों के वर्गीकरण में मुख्यत: एक स्थूल दृष्टि रखी गई है और इसी हेतु कूटस्थ आत्मवाद, नियतिवाद या परिणामी आत्मवाद और पुरुषार्थवाद महावीर के आत्मवाद का मुख्य अंग माने गये हैं फिर भी महावीर का आत्म-दर्शन समन्वयात्मक है अत: उनके आत्म-दर्शन को एकान्त रूप से उस वर्ग में नहीं रखा जा सकता है।

अनित्य-आत्मवाद

महावीर के समकालीन विचारकों में इस अनित्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व अजितकेशकम्बल करते हैं। इस धारणा के अनुसार आत्मा या चैतन्य इस शरीर के साथ उत्पन्न होता है और इसके नष्ट हो जाने के साथ ही नष्ट हो जाता है। उनके दर्शन एवं नैतिक सिद्धान्तों को बौद्ध आगम में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है-

दान, यज्ञ, हवन व्यर्थ हैं, सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल-विपाक नहीं। यह लोक-परलोक नहीं। माता-पिता नहीं, देवता नहीं... आदमी चार महाभूतों का बना है, जब मरता है तब (शरीर की) पृथ्वी पृथ्वी में, पानी पानी में, आग आग में और वायु वायु में मिल जाती है... दान यह मूर्खों का उपदेश है... मूर्ख हो चाहे पण्डित शरीर छोड़ने पर उच्छिन्न हो जाते हैं...।

बाह्य रूप से देखने पर अजित की यह धारणा स्वार्थ सुखवाद की नैतिक धारणा के समान प्रतीत होती है और उसका दर्शन या आत्मवाद भौतिकवादी परिलक्षित होता है। लेकिन पुन: यहाँ यह शंका उपस्थित होती है कि यदि अजितकेशकम्बल नैतिक धारणा में सुखवादी और उनका दर्शन भौतिकवादी था तो फिर वह स्वयं साधना मार्ग और देह-दण्डन के पथ का अनुगामी क्यों था, उसने किस हेतु श्रमणों एवं उपासकों का संघ बनाया था। यदि उसकी नैतिकता भोगवादी थी तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे स्वयं संन्यास-मार्ग का पथिक नहीं बनना था, न उसके संघ में संन्यासी या गृहत्यागी का स्थान होना था।

सम्भवत: वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत होती है कि अजित दार्शनिक दृष्टि से अनित्यवादी था, जगत् की परिवर्तनशीलता पर ही उसका जोर था। वह लोक, परलोक, देवता, आत्मा आदि किसी भी तत्त्व को नित्य नहीं मानता था। उसका यह कहना "यह लोक नहीं परलोक नहीं, माता-पिता नहीं, देवता नहीं..." केवल इसी अर्थ का द्योतक है कि इन सभी की शाश्वत् सत्ता नहीं है, सभी अनित्य हैं। वह आत्मा को भी अनित्य मानता था और इसी आधार पर यह कहा गया कि उसकी नैतिक धारणा में सुकृत और दुष्कृत कर्मों का विपाक नहीं।

पश्चिम में यूनानी दार्शनिक हेराक्टिस (५३५ ई.पू.) भी इसी का समकालीन था और वह भी अनित्य वादी ही था।

सम्भवत: अजित नित्य आत्मवाद के आधार पर नैतिकता की धारणा को स्थापित करने में उत्पन्न होने वाली दार्शनिक कठिनाइयों से अवगत था। क्योंकि नित्य आत्मवाद के आधार पर हिंसा की बुराई को नहीं समाप्त किया जा सकता। यदि आत्मा नित्य है तो फिर हिंसा किसकी? अत: अजित ने यज्ञ, याग एवं युद्ध-जनित हिंसा से मानव-जाति को मुक्त करने के लिये अनित्य आत्मवाद का उपदेश दिया होगा।

साथ ही ऐसा भी प्रतीत होता है कि वह तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होने वाले सांसारिक क्लेशों से भी मानव-जाति को मुक्त करना चाहता था और इसी हेतु उसने गृह-त्याग और देह-दण्डन, जिससे आत्म-सुख और भौतिक-सुख की विभिन्नता को समझा जा सके, को आवश्यक माना था।

इस प्रकार अजित का दर्शन आत्म-अनित्यवाद का दर्शन है और उसकी नैतिकता है— आत्म-सुख (Subjective Pleasure) की उपलब्धि।

सम्भवत: ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध ने अपने अनात्मवादी दर्शन के निर्माण में अजित का यह अनित्य आत्मवाद अपना लिया था और उसकी नैतिक धारणा में से देह-दण्डन की प्रणाली को समाप्त कर दिया था। यही कारण है कि अजित की यह दार्शनिक परम्परा बुद्ध की दार्शनिक परम्परा के प्रारम्भ होने पर विलुप्त हो गई। बुद्ध के दर्शन ने अजित के अनित्यतावादी आत्म-सिद्धान्त को आत्मसात् कर लिया और उसकी नैतिक धारणा को परिष्कृत कर उसे ही एक नये रूप में प्रस्तुत कर दिया।

अनित्य आत्मवाद के सम्बन्ध में जैनागम उत्तराध्ययन के १४वें अध्ययन की १८वीं गाथा में भी विवेचन प्राप्त होता है, जहाँ यह बताया गया कि यह आत्मा शरीर में उसी प्रकार रहती है जैसे तिल में तेल, अरणी में अग्नि या दूध में घृत रहता है और इस शरीर के नष्ट हो जाने के साथ ही वह नष्ट हो जाती है।

औपनिषदिक साहित्य में कठोपनिषद् की प्रथम वल्ली के अध्याय १ के २०वें श्लोक में नचिकेता भी यह रहस्य जानना चाहता है कि आत्मनित्यतावाद और आत्म-अनित्यतावाद में कौन सी धारणा सत्य है और कौन सी असत्य?

इस प्रकार यह तो निर्भ्रान्त रूप से सत्य है कि महावीर के समकालीन विचारकों में आत्म-अनित्यतावाद को मानने वाले विचारक थे। लेकिन वह अनित्य आत्मवाद भौतिक आत्मवाद नहीं, वरन् दार्शनिक अनित्य आत्मवाद था। उनके मानने वाले विचारक आधुनिक सुखवादी विचारकों के समान भौतिक सुखवादी नहीं थे, वरन् वे आत्म-शान्ति एवं आसक्तिनाश या तृष्णाक्षय के हेतु प्रयासशील थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि अजित का दर्शन और धर्म (नैतिकता) बौद्ध दर्शन एवं धर्म की पूर्व कड़ी था। बौद्धों ने उसके दर्शन की जो आलोचना की थी अथवा उसके नैतिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये थे कि उसके अनुसार दुष्कृत एवं सुकृत कर्मों का विपाक नहीं, यही आलोचना पश्चात् काल में बौद्ध आत्मवाद को कृतप्रणाश एवं अकृत-कर्मभोग के दोष से युक्त कहकर— हेमचन्द्राचार्य ने प्रस्तुत की।

अनित्य-आत्मवाद की धारणा नैतिक दृष्टि से उचित नहीं बैठती क्योंकि उसके आधार पर कर्म-विपाक या कर्म-फल के सिद्धान्त को नहीं समझाया जा सकता। समस्त शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफल तत्काल प्राप्त नहीं होता। अत: कर्म-फल की धारणा के लिये नित्य आत्मवाद की ओर आना होता है। दूसरे अनित्य आत्मवाद की धारणा में पुण्य-संचय, परोपकार, दान आदि के नैतिक आदर्शों का भी कोई अर्थ नहीं रहता।

नित्य कूटस्थ आत्मवाद

वर्तमान दार्शनिक परम्पराओं में भी अनेक इस सिद्धान्त के समर्थक हैं कि आत्मा कूटस्थ (निष्क्रिय) एवं नित्य है, सांख्य और वेदान्त भी इसके समर्थक हैं। जिन विचारकों ने आत्मा को कूटस्थ माना है, उन्होंने उसे नित्य भी माना है। अत: हमने भी अपने विवेचन हेतु नित्य आत्मवाद और कूटस्थ आत्मवाद दोनों को समन्वित रूप से एक ही साथ रखा है। महावीर के समकालीन कूटस्थ नित्य आत्मवाद के प्रतिनिधि पूर्णकश्यप थे।

पूर्णकश्यप के सिद्धान्तों का चित्रण बौद्ध-साहित्य में इस प्रकार है— अगर कोई क्रिया करे, कराये, काटे, कटवाये, कष्ट दे या दिलाये— चोरी करे— प्राणियों को मार डाले— परदार गमन करे या असत्य बोले तो भी उसे पाप नहीं। तीक्ष्ण धार वाले चक्र से यदि कोई इस संसार के प्राणियों के माँस का ढेर लगा दे तो भी उसे कोई पाप नहीं है, दोष नहीं है— दान, धर्म और सत्य-भाषण से कोई पुण्य-प्राप्ति नहीं होती।

इस धारणा को देखकर सहज ही शंका होती है कि इस प्रकार का उपदेश देने वाला कोई यशस्वी, लोकसम्मानित व्यक्ति नहीं हो सकता, वरन् कोई धूर्त होगा। लेकिन पूर्णकश्यप एक लोकपूजित शास्ता थे, अत: यह निश्चित है कि ऐसा अनैतिक दृष्टिकोण उनका नहीं हो सकता, यह उनके आत्मवाद का नैतिक फलित होगा जो एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरोधी दृष्टिकोण वाले लोगों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। फिर भी इसमें इतनी सत्यता अवश्य होगी कि पूर्णकश्यप आत्मा को अक्रिय मानते थे, वस्तुत: उनकी आत्म-अक्रियता की धारणा का उपर्युक्त निष्कर्ष निकालकर उनके विरोधियों ने उनके मत को विकृत रूप में प्रस्तुत किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्णकश्यप के इस आत्म-अक्रियवाद को उसके पश्चात् कपिल के सांख्य दर्शन और भगवद्गीता में भी अपना लिया गया था। कपिल और भगवद्गीता का काल लगभग ४०० ई.पू. माना जाता है और इस आधार पर यह माना जा सकता है कि ये पूर्णकश्यप के आत्म-अक्रियवाद से अवश्य प्रभावित हुए होंगे। कपिल के दर्शन में आत्म-अक्रियवाद के साथ ही ईश्वर का अभाव इस बात का सबल प्रमाण है कि वह किसी अवैदिक श्रमण परम्परा के दर्शन से प्रभावित था और वह दर्शन पूर्ण कश्यप का आत्म अक्रियवाद का दर्शन ही होगा, क्योंकि उसमें भी ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं था। सांख्य दर्शन भी आत्मा को त्रिगुणयुक्त प्रकृति से भिन्न मानता है और मारना, मरवाना आदि सभी को प्रकृति का परिणाम मानता है। आत्मा सबसे प्रभावित नहीं होती है। वह यह भी नहीं मानता है कि आत्मा को नष्ट किया जा सकता है। आत्मा बन्धन में नहीं आता, वरन् प्रकृति ही प्रकृति को बाँधती है। अत: शुभाशुभ कार्यों का प्रभाव भी आत्मा पर नहीं पड़ता। इस प्रकार पूर्णकश्यप का दर्शन कपिल के दर्शन का पूर्ववर्ती था। इसी प्रकार गीता में भी पूर्ण कश्यप के इस आत्म-अक्रियवाद की प्रतिध्वनि यत्र-तत्र सुनाई देती है, जो सांख्य दर्शन के माध्यम से उस तक पहुँची थी। स्थानाभाव से हम यहाँ उन सब प्रमाणों को प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। पाठकगण उल्लिखित स्थानों पर उन्हें देख सकते हैं।[५]

उपर्युक्त संदर्भों के आधार पर बौद्ध आगम में प्रस्तुत पूर्ण कश्यप के दृष्टिकोण को एक सही दृष्टिकोण से समझा जा सकता है। फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उपर्युक्त आत्म-अक्रियवाद की धारणा नैतिक सिद्धान्तों के स्थापन में तार्किक दृष्टि से उपयुक्त नहीं ठहरती है।

यदि आत्मा अक्रिय है, वह किसी क्रिया का कर्ता नहीं है तो फिर वह शुभाशुभ कार्यों का उत्तरदायी भी नहीं माना जा सकता है। स्वयं प्रकृति भी चेतना एवं शुभाशुभ के विवेक के अभाव में उत्तरदायी नहीं बनती। इस प्रकार आत्म-अक्रियवाद के सिद्धान्त में उत्तरदायित्व की धारणा को अधिष्ठित नहीं किया जा सकता और उत्तरदायित्व के अभाव में नैतिकता, कर्त्तव्य, धर्म आदि का मूल्य शून्यवत् हो जाता है।

इस प्रकार आत्म-अक्रियतावाद सामान्य बुद्धि की दृष्टि से एवं नैतिक नियमों के स्थापन की दृष्टि से अनुपयोगी ठहरता है, फिर भी दार्शनिक दृष्टि से इसका कुछ मूल्य है क्योंकि स्वभावतया आत्मा को अक्रिय माने बिना मोक्ष एवं निर्वाण की व्याख्या सम्भव नहीं थी। यही कारण था कि आत्म-अक्रियतावाद या कूटस्थ-नित्य-आत्मवाद का प्रभाव दार्शनिक विचारणा पर बना रहा।

निष्क्रिय आत्मविकासवाद एवं नियतिवाद

आत्म-अक्रियतावाद या कूटस्थ-आत्मवाद की एक धारा नियतिवाद थी। यदि आत्मा अक्रिय है एवं कूटस्थ है तो पुरुषार्थवाद के द्वारा आत्मविकास एवं निर्वाण-प्राप्ति की धारणा को नहीं समझाया जा सकता था।

मंक्खलीपुत्र गोशालक जो आजीवक सम्प्रदाय का प्रमुख था— पूर्णकश्यप की आत्म-अक्रियतावाद की धारणा का तो समर्थक था लेकिन अक्रिय-आत्मवाद के कारण एवं आत्म-विकास की परम्परा को व्यक्त करने में असमर्थ था। अत: निम्न योनि से आत्म-विकास की उच्चतम स्थिति निर्वाण को प्राप्त करने के लिये उसने निष्क्रिय आत्म-विकासवाद के सिद्धान्त को स्थापित किया। सामान्यतया उसके सिद्धान्त को नियतिवाद किंवा भाग्यवाद कहा गया है, लेकिन मेरी दृष्टि में उसके सिद्धान्त को निष्क्रिय आत्म-विकासवाद कहा जाना अधिक समुचित है।

ऐसा प्रतीत होता है गौशालक उस युग का प्रबुद्ध व्यक्ति था, उसने अपने आजीवक सम्प्रदाय में पूर्णकश्यप के सम्प्रदाय को भी शामिल कर लिया था। प्रारम्भ में उसने भगवान् महावीर के साथ अपनी साधना-पद्धति को प्रारम्भ किया था लेकिन उनसे वैचारिक मतभेद होने पर उसने पूर्णकश्यप के सम्प्रदाय से मिलकर आजीवक सम्प्रदाय स्थापित कर लिया होगा,[६] जिसका दर्शन एवं सिद्धान्त पूर्ण कश्यप की धारणाओं से प्रभावित थे तो साधना मार्ग का बाह्य स्वरूप महावीर की साधना-पद्धति से प्रभावित था।

बौद्ध आगम एवं जैनागम दोनों में ही उसकी विचारणा का कुछ स्वरूप प्राप्त होता है। यद्यपि उसका प्रस्तुतीकरण एक विरोधी पक्ष के द्वारा हुआ है, यह तथ्य ध्यान में रखना होगा।

गोशालक की विचारणा का स्वरूप पालि आगम में निम्नानुसार है—

हेतु के बिना— प्राणी अपवित्र होता है, हेतु के बिना— प्राणी शुद्ध होते हैं— पुरुष की सामर्थ्य से कुछ नहीं होता— सर्व सत्व सर्व प्राणी, सर्वभूत, सर्वजीव, अवश, दुर्बल, निवीर्य हैं, वे नियति (भाग्य), संगति एवं स्वभाव के कारण परिणित होते हैं—

इसके आगे उसकी नैतिकता की धारणा को पूर्वोक्त प्रकार से भ्रष्ट रूप में उपस्थित किया गया है, जो विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती।

उपर्युक्त आधार पर उसकी धारणा का सार यही है कि आत्मा निष्क्रिय है, अवीर्य है, इसका विकास स्वभावत: होता रहता है। विभिन्न योनियों में होता हुआ यह जीवात्मा अपना विकास करता है और निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिक दृष्टि से वह व्यक्ति को अपनी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने का उपदेश देता था, अन्यथा वह स्वयं भी नग्न रहना आदि देह-दण्डन को क्यों स्वीकार करता? जिस प्रकार बाद में गीता में अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्त्तव्य करने का उपदेश दिया गया था। वर्तमान युग में ब्रेडले ने (Mystation and its duties) समाज में अपनी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने के नैतिक सिद्धान्त को प्रतिपादित किया, उसी प्रकार वह छ: अभिजातियों[७] (वर्गों) को उनकी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने का उपदेश देता_ होगा और यह मानता होगा कि आत्मा अपनी अभिजातियों के कर्त्तव्य का पालन करते हुए स्वत: विकास की क्रमिक गति से आगे बढ़ता रहता है।

पारमार्थिक दृष्टि से या तार्किक दृष्टि से नियतिवादी विचारणा का चाहे कुछ मूल्य रहा हो, लेकिन नैतिक विवेचना में नियतिवाद अधिक सफल नहीं हो पाया। नैतिक विवेचना में इच्छा-स्वातन्त्र्य (Free-will) की धारणा आवश्यक है, जबकि नियतिवाद में उसका कोई स्थान नहीं रहता है। फिर दार्शनिक दृष्टि से भी नियतिवादी तथा स्वत: विकासवादी धारणायें निर्दोष हों, ऐसी बात भी नहीं है।

नित्यकूटस्थ-सूक्ष्म-आत्मवाद

बुद्ध का समकालीन एक विचारक पकुधकच्चायन आत्मा को नित्य और कूटस्थ (अक्रिय) मानने के साथ ही उसे सूक्ष्म मानता था। 'ब्रह्मजालसुत्त' के अनुसार उसका दृष्टिकोण इस प्रकार का था—

सात पदार्थ किसी के— बने हुए नहीं हैं (नित्य हैं), वे तो अवध्य कूटस्थ— अचल हैं।— जो कोई तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का सिर काट डालता है, वह उसका प्राण नहीं लेता। बस इतना ही समझना चाहिये कि सात पदार्थों के बीच अवकाश में उसका शस्त्र घुस गया है।

इस प्रकार इस धारणा के अनुसार आत्मा नित्य और कूटस्थ तो थी ही साथ ही सूक्ष्म और अछेद्य भी थी। पकुधकच्चायन की इस धारणा के तत्त्व उपनिषदों[८] तथा गीता[९] में भी पाये जाते हैं। उपनिषदों में आत्मा को जो, सरसों या चावल के दाने से सूक्ष्म माना गया है तथा गीता में उसे अछेद्य, अवध्य कहा गया है।

सूक्ष्म आत्मवाद की धारणा भी दार्शनिक दृष्टि से अनेक दोषों से पूर्ण है। अत: बाद में इस धारणा में काफी परिष्कार हुआ है।

महावीर का आत्मवाद

यदि उपर्युक्त आत्मवादों का तार्किक वर्गीकरण किया जाये तो हम उनके छ: वर्ग बना सकते हैं

(१) अनित्य आत्मवाद या उच्छेद आत्मवाद
(२) नित्य आत्मवाद या शाश्वत आत्मवाद
(३) कूटस्थ आत्मवाद या निष्क्रिय आत्मवाद एवं नियतिवाद
(४) परिणामी आत्मवाद या कर्त्ता आत्मवाद या पुरुषार्थवाद
(५) सूक्ष्म आत्मवाद
(६) विभु आत्मवाद (यही बाद में उपनिषदों का सर्वात्मवाद या ब्रह्मवाद बना है)

महावीर अनेकान्तवादी थे, साथ ही वे इन विभिन्न आत्मवादों की दार्शनिक एवं नैतिक कमजोरियों को भी जानते रहे होंगे। अत: उन्होंने अपने आत्मवाद को इनमें से किसी भी सिद्धान्त के साथ नहीं बाँधा। उनका आत्मवाद इनमें से किसी भी एक वर्ग के अन्तर्गत नहीं आता, वरन् उनका आत्मवाद इन सबका एक सुन्दर समन्वय है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने वीतरागस्तोत्र में एकांत नित्य आत्मवाद और एकान्त अनित्य आत्मवाद के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए बताया है कि वीतराग का दर्शन इन दोनों के दोषों से मुक्त है। विस्तारभय से यहाँ नित्य आत्मवाद और अनित्य आत्मवाद तथा कूटस्थ आत्मवाद और परिणामी आत्मवाद के दोषों की विवेचना में न पड़कर हमें केवल यही देखना है कि महावीर ने इन विभिन्न आत्मवादों का किस रूप से समन्वय किया है—

(१) नित्यता— आत्मा अपने अस्तित्व की दृष्टि से सदैव रहता है अर्थात् नित्य है। दूसरे शब्दों में आत्म तत्त्व रूप से नित्य है, शाश्वत है।

(२) अनित्यता— आत्मा पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। आत्मा के एक समय में जो पर्याय रहते हैं, वे दूसरे समय में नहीं रहते हैं। आत्मा की अनित्यता व्यावहारिक दृष्टि से है, बद्धात्मा में पर्याय परिवर्तन के कारण अनित्यत्व का गुण भी रहता है।

(३) कूटस्थता— स्वलक्षण की दृष्टि से आत्मा कर्ता या भोक्ता अथवा परिणमनशील नहीं है।

(४) परिणामीपन या कर्तृत्व— सभी बद्धात्माएँ कर्मों की कर्त्ता और भोक्ता हैं। यह एक आकस्मिक गुण है, जो कर्म पुद्गलों के संयोग से उत्पन्न होता है।

(५-६) सूक्ष्मता तथा विभुता— आत्मा संकोच एवं विकासशील है। आत्म-प्रदेश घनीभूत होकर इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि आगमिक दृष्टि से एक सूचिकाग्रभाग पर असंख्य आत्मा सशरीर निवास करती है। तलवार की सूक्ष्म तीक्ष्ण धार भी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के शरीर तक को नष्ट नहीं कर सकती। विभुता की दृष्टि से एक ही आत्मा के प्रदेश यदि प्रसारित हों तो समस्त लोक को व्याप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर का आत्मवाद तत्कालीन विभिन्न आत्मवादों का सुन्दर समन्वय है। यही नहीं वरन् वह समन्वय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि सभी प्रकार की आत्मवादी धारायें अपने-अपने दोषों से मुक्त हो-होकर यहाँ आकर मिल जाती हैं।

हेमचन्द्र इस समन्वय की औचित्यता को एक सुन्दर उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

गुडो हि कफ हेतुःस्यात् नागरं पित्तकारणम ।
द्वयात्मनि न दोषोस्ति गुडनागरभेषजे ।।

जिस प्रकार गुड़ कफ जनक और सोंठ पित्त जनक है लेकिन दोनों के समन्वय में यह दोष नहीं रहते।

इसी प्रकार विभिन्न आत्मवाद पृथक्-पृथक् रूप से नैतिक अथवा दार्शनिक दोषों से ग्रस्त है, लेकिन महावीर द्वारा किये गये इस समन्वय में वे सभी अपने-अपने दोषों से मुक्त हो जाते हैं। यही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर के आत्मवाद की औचित्यता है। यही उनका वैशियष्टय है।

सन्दर्भ

१. मज्झिमनिकाय, २/३/७
२. संयुक्तनिकाय, ३/१/१
३. (अ) सूत्रकृतांग, प्रथम अध्ययन, (ब) भगवती १/९/५, शतक १५ (स) उत्तराध्ययन १४/१८
४. ये प्राचीनतम माने जाने वाले उपनिषद् महावीर के समकालीन या उनसे कुछ परवर्ती ही हैं, क्योंकि महावीर के समकालीन "अजातशत्रु" का नाम निर्देश इनमें उपलब्ध है। बृहदा.२/१५-१७
५. गीता ३/२७/, २/२१, ८/१७
६. अंगुत्तरनिकाय का छक्क निपातसुत्त तथा भगवान् बुद्ध, धर्मानन्द कौशम्बी, पृ. १८
७. गोशालक की छः अभिजातियाँ व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएं हैं —
१. कृष्ण, २. नील, ३. लोहित, ४. हरित, ५. शुक्ल, ६. परमशुक्ल, तुलनीय, जैनों का लेश्या-सिद्धान्त — (१) कृष्ण, (२) नील, (३) कपोत, (४) तेजो, (५) पद्म, (६) शुक्ल
(विचारणीय तथ्य यह है कि गोशालक के अनुसार निर्ग्रन्थ साधु तीसरे लोहित नामक वर्ग में हैं जबकि जैन धारणा भी उसे तेजोलेश्या (लोहित) वर्ग का साधक मानती है)
८. छान्दोग्य उपनिषद्, ३/१४/३
बृहदारण्यक उपनिषद्, ५/६/१
कठोपनिषद्, २/४/१२
९. गीता, २/१८-२०.

जैन दर्शन में आत्मा : स्वरूप एवं विश्लेषण

आत्मा या जीव द्रव्य को अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है। जीव द्रव्य का लक्षण उपयोग या चेतना को माना गया है। इसीलिए इसे चेतन द्रव्य भी कहा जाता है। उपयोग या चेतना के दो प्रकारों की चर्चा आगमों में मिलती है-निराकार उपयोग और साकार उपयोंग। इन दोनों को क्रमशः दर्शन और ज्ञान कहा जाता है। निराकार उपयोग, वस्तु के सामान्य स्वरूप का ग्रहण करने के कारण, दर्शन कहा जाता है और साकार उपयोग, को वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का ग्रहण करने के कारण, ज्ञान कहा जाता है। जीव द्रव्य के सन्दर्भ में जैन दर्शन की विशेषता यह है कि वह जीव द्रव्य को एक अखण्ड द्रव्य न मानकर अनेक द्रव्य मानता है। उसके अनुसार प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता है और विश्व में जीवों की संख्या अनन्त है। इस प्रकार संक्षेप में जीव अस्तिकाय, चेतन, अरूपी और अनेक द्रव्य है।

जीव को जैन दर्शन में आत्मा भी कहा गया है। अतः यहाँ आत्मा के सम्बन्ध में कुछ मौलिक प्रश्नों पर विचार किया जा रहा है-

आत्मा का अस्तित्व

जैन दर्शन में जीव या आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व या द्रव्य माना गया है। जहाँ तक हमारे आध्यात्मिक जीवन का प्रश्न है आत्मा के अस्तित्व पर शंका करके आगे बढ़ना असम्भव है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास की पहली शर्त आत्म-विश्वास है। विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये गये हैं-

(१) जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है, क्योंकि असद् वस्तु की कोई सार्थक संज्ञा ही नहीं बनती।[१]

(२) जीव है या नहीं, यह सोचना मात्र ही किसी विचारशील सत्ता अर्थात् जीव की सत्ता को सिद्ध कर देता है। देवदत्त जैसा सचेतन प्राणी ही यह सोच सकता है कि वह स्तम्भ है या पुरुष।[२]

(३) शरीर स्थित जो यह सोचता है कि 'मैं नहीं हूँ' वही तो जीव है। जीव के अतिरिक्त संशयकर्ता अन्य कोई नहीं है। यदि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव ही कैसे हो कि मैं हूँ या नहीं? जो निषेध कर रहा है वह स्वयं ही आत्मा है। संशय के लिए किसी ऐसे तत्त्व के अस्तित्व की अनिवार्यता है जो उस विचार का आधार हो। बिना अधिष्ठान के कोई विचार या चिन्तन सम्भव नहीं हो सकता। संशय का अधिष्ठान कोई न कोई अवश्य होना चाहिए। महावीर गौतम से कहते हैं- हे गौतम! यदि कोई संशयकर्ता ही नहीं है तो 'मै हूँ' या 'नहीं हूँ' यह संशय कहाँ से उत्पन्न होता है? तुम स्वयं अपने ही विषय में सन्देह कैसे कर सकते हो, फिर किसमें संशय न होगा? क्योंकि संशय आदि जितनी भी मानसिक और बौद्धिक क्रियाएँ हैं, वे सब आत्मा के कारण ही हैं। जहाँ संशय होता है, वहाँ आत्मा का अस्तित्व अवश्य स्वीकारना पड़ता है। वस्तुतः जो प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। आत्मा स्वयंसिद्ध है, क्योंकि उसी के आधार पर संशयादि उत्पन्न होते हैं सुख-दुःखादि को सिद्ध करने के लिए भी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं।[३] ये सब आत्मपूर्वक ही हो सकते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जिसके द्वारा जाना जाता है, वही आत्मा है।[४]

आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र भाष्य में ऐसे ही तर्क देते हुए कहते हैं कि जो निरसन कर रहा है वही तो उसका स्वरूप है।[५] आत्मा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org